दैनिक जागरण

दूसरों की गलती की सजा खुद को देना सबसे बड़ी गलती है

मध्यस्थता का महत्व

यह अच्छा हुआ कि सुप्रीम कोर्ट ने अयोध्या मामले को बातचीत से हल करने के लिए तीन मध्यस्थ तय कर दिए। तीन सदस्यीय मध्यस्थता समूह की अध्यक्षता सेवानिवृत्त न्यायाधीश एफएम इब्राहिम कलीफुल्ला को सौंपी गई है। इस समूह के दो अन्य सदस्य हैं आध्यात्मिक गुरु श्रीश्री रविशंकर और वरिष्ठ वकील एवं मध्यस्थता संबंधी मामलों के विशेषज्ञ श्रीराम पंचू। हालांकि कुछ लोगों को श्रीश्री रविशंकर के मध्यस्थ होने पर आपत्ति है, लेकिन इसकी अनदेखी नहीं की जानी चाहिए कि वह अपने स्तर पर अयोध्या मामले को बातचीत से हल करने की कोशिश कर चुके हैं। वह न केवल इस विवाद के हर पहलू से परिचित हैं, बल्कि उन्हें इसका भी भान है कि संबंधित पक्ष क्या चाहते हैं? स्पष्ट है कि उनके जैसे किसी शख्स को इस मध्यस्थता समूह में होना ही चाहिए था। सुप्रीम कोर्ट ने मध्यस्थता पैनल को आठ सप्ताह का समय दिया है और यह भी अपेक्षा की है कि आपसी बातचीत का विवरण मीडिया को सार्वजनिक करने से बचा जाए। इस पर भी विरोध के कुछ स्वर सामने आए हैं, लेकिन विरोध जताने वाले यह ध्यान रखें तो बेहतर कि किसी संवेदनशील मसले पर पल-पल की जानकारी देना कई बार समस्या को उलझाने का ही काम करता है। निःसंदेह इस मध्यस्थता समूह के सिर पर महती जिम्मेदारी है और यह तय है कि उस पर देश ही नहीं, दुनिया की भी निगाहें होंगी, लेकिन उसकी सफलता-असफलता संबंधित पक्षों के रुख-रवैये पर निर्भर करेगी। बेहतर हो कि उन्हें भी अपनी जिम्मेदारी का आभास हो।

कहने को तो अयोध्या मामला जमीन के मालिकाना हक का विवाद है, लेकिन सच्चाई यही है कि यह केवल जमीन के एक टुकड़े का मसला नहीं है। इस पर हैरत नहीं कि कुछ लोग अभी भी यह तर्क पेश कर रहे हैं कि आखिर सुप्रीम कोर्ट ने अयोध्या विवाद पर फैसला सुनाने के बजाय उसे मध्यस्थता के हवाले क्यों कर दिया? इस तर्क का अपना महत्व है, लेकिन सभी पक्षों से बात करके किसी सर्वमान्य हल पर पहुंचने के जो लाभ हैं वे कहीं अधिक दूरगामी महत्व के हैं। यदि आपसी वार्ता से अयोध्या विवाद का हल निकल आता है तो किसी भी पक्ष को निराशा का सामना नहीं करना पड़ेगा। आपसी सहमति से हासिल समाधान न केवल संबंधित पक्षों में सद्भाव बढ़ाएगा, बल्कि देश में भी मैत्री की भावना का संचार करेगा। क्या इससे बेहतर और कुछ हो सकता है कि अयोध्या मामले का हल इस तरह से हो कि कोई भी पक्ष हार या जीत की भावना से न भरे? यह सही है कि किसी सर्वमान्य हल पर पहुंचना एक कठिन काम है, लेकिन अगर तनिक भी संभावना है तो उसे टटोला जाना चाहिए। अच्छा होता कि सुप्रीम कोर्ट ने जो काम अब किया वह तभी कर देता जब उसकी ओर से पहली बार इस मामले को बातचीत से हल करने की जरूरत जताई गई थी। जो भी हो, कम से कम अब तो सुप्रीम कोर्ट को इसके लिए तैयार रहना चाहिए कि अगर मध्यस्थता से बात न बने तो फिर वह अपना फैसला सुनाने में देर न करे। वैसे अच्छा यही होगा कि इसकी नौबत न आए।

लापरवाह तंत्र

उत्तराखंड के हरिद्वार जनपद में उत्तर प्रदेश की सीमा से सटे गांवों में जहरीली शराब से बयालीस मौतें होने के बाद भी सिस्टम की आंखें नहीं खुलीं। अगर उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले के सीमावर्ती गांवों में हुई मौत के आंकड़े को भी जोड़ दें तो सवा सौ से ज्यादा लोग इसमें मारे गए थे। शराब कांड ने तब दोनों ही राज्यों की सरकारों को हिलाकर रख दिया था। इसके बाद उत्तराखंड सरकार ने फौरी कदम उठाते हुए पुलिस और आबकारी विभाग के कुछ कार्मिकों पर कार्रवाई की, लेकिन अधिकारियों पर हाथ डालने से परहेज किया। हालांकि सीधे तौर पर उसने इस तरह के आरोपों को नकारा। इस बीच, सत्ता प्रतिष्ठान के भीतर से ही विधानसभा सदन और बाहर दोनों जगह इसको लेकर आवाज उठी तो सरकार असहज स्थिति में आ खड़ी हुई। विपक्ष की आक्रामकता अलग से सरकार को टेंशन दिए हुए थी। मामले की गंभीरता को देखते हुए विधान सभा की पीठ को जांच के लिए बाकायदा विधायकों की कमेटी गठित करनी पड़ी। इसके बाद कमेटी की रिपोर्ट के आधार पर कुछ अन्य अधिकारियों के खिलाफ कार्रवाई की गई। यही नहीं, विधानसभा के हालिया दिनों में संपन्न बजट सत्र में सरकार ने अवैध शराब के खिलाफ कार्रवाई के लिए सख्त कानून भी बनाया, लेकिन शायद सिस्टम ने इस सबके बावजूद सबक नहीं लिया। राज्य के सीमावर्ती गांवों में जहरीली शराब से हुई मौत को लोग भूले भी नहीं थे कि अब टिहरी जिले में ऐसा ही मामला सामने आ गया। यहां तीन लोगों की जहरीली शराब पीने से मौत हो गई, जबकि बड़ी संख्या में बीमार हैं। जैसा कि बताया जा रहा है यह शराब देहरादून से खरीदी गई थी। इस क्षेत्र में अर्से से कच्ची और अवैध शराब की तस्करी की बात भी सामने आ रही है, लेकिन चिंताजनक यह कि जिम्मेदार इससे अनजान बने रहे। पुलिस और आबकारी विभाग के चेकिंग सिस्टम पर भी सवाल उठ रहे हैं। तो क्या पुलिस और आबकारी विभाग की मिलीभगत से यह धंधा चल रहा है, अगर ऐसा नहीं तो सच सभी के सामने लाया जाना चाहिए। कार्यप्रणाली का आलम यह कि टिहरी जिले के मरोड़ा गांव में शराब पीने से लोगों की मौत और बीमार होने की सूचना मिलने के बाद भी निकटवर्ती चौकी की पुलिस ने मौके पर जाने की जहमत नहीं उठाई।

भारतीयता से दूर भागते वामपंथी

डॉ. मनमोहन वैद्य

ऐसी जमात क्यों फल-फूल रही है जिसे 'भारत तेरे टुकड़े होंगे' या 'भारत की बर्बादी' जैसा नारा तो मंजूर है, पर 'मैं रहूं या ना रहूं, भारत ये रहना चाहिए' से चिढ़ है?

मेरे परिचित परिवार की एक छात्रा जयपुर में पढ़ती है। जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल में वह वॉलंटियर के नाते जुड़ी थी। उसने अपना अनुभव बताया कि सभी सत्रों में वक्ताओं में और प्रबंधकों में भी 'लेफ्ट' का साफ प्रभाव और वर्चस्व दिखा। मुझे यह जानकर आश्चर्य नहीं हुआ, अपेक्षित था। उसने एक और अनुभव बताया कि उनकी टीम लीडर जो एक वामपंथी एक्टिविस्ट है, ने बातचीत में कहा कि इस बार हमने प्रसिद्ध गीतकार प्रसून जोशी को फेस्टिवल में नहीं बुलाया, क्योंकि वह 'राइटविंगर' हो गए हैं। छात्रा ने जब पूछा कि क्या 'राइटविंगर' इतना बुरा या खराब है? इस पर टीम लीडर ने कहा कि जब प्रसून जी ने 'रंग दे बसंती' फिल्म के लिए गीत लिखे तब तो ठीक था, कारण उसमें क्रांति की बात थी, पर अब उन्होंने 'मणिकर्णिका' के लिए गीत लिखे हैं। उस छात्रा ने पूछा कि इसमें आपत्तिजनक क्या है? वामपंथी एक्टिविस्ट का जवाब था, इस देश में फिल्म, लिटरेचर, ड्रामा, गीत इन सब की शुरुआत 'लेफ्ट' से ही हुई है। अन्य किसी का ये काम नहीं है। अब लिट-फेस्ट में किसको बुलाना और किसको नहीं, यह आयोजकों का अधिकार है।

दो वर्ष पूर्व मेरा और दत्तात्रेय होसबाले जी का जेएलएफ के लिए निमंत्रण वामपंथियों के घोर विरोध के बावजूद भी कायम रखना या इस वर्ष रमेश पतंगे जी को आमंत्रित करना, यह आयोजकों का निर्णय है। इस वर्ष भी आयोजकों ने प्रसून जोशी जी को वाम विरोध के बावजूद निमंत्रित किया, पर स्वास्थ्य कारणों से उन्हें अपने आने का कार्यक्रम रद करना पड़ा, किंतु वामपंथी सोच यदि यह है कि अब प्रसून जोशी जी को इस कारण नहीं बुलाना चाहिए, क्योंकि 'मणिकर्णिका' के लिए गीत लिखकर वे 'राइटविंगर' हो गए हैं तो यह वैचारिक संकुचितता अभारतीय है। यह विसंगति ध्यान देने योग्य है कि अहंकार और अनुदार वृत्ति वामपंथ का स्थाई चरित्र है, किंतु ये लोग अपने आप को उदार, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के रक्षण कर्ता आदि कहते नहीं अघाते।

अधिकतर वामपंथी दूसरों के पक्ष को सुनना भी निषिद्ध या पाप मानते हैं। इसलिए जयपुर लिट फेस्ट में जब दो वर्ष संघ के पदाधिकारियों को बुलाया गया था तो इन वामपंथियों का गुस्सा सातवें आसमान पर पहुंच गया था। जिस संघ का जनसमर्थन और जनसहभाग अनेक विरोध और अवरोधों के बावजूद अपने कार्यकर्ताओं के बलबूते लगातार बढ़ रहा है उस संघ को अपनी बात रखने का मौका देने का विरोध ऐसे असहिष्णु वामपंथी नेता कर रहे थे जिनका जनाधार लगातार घट रहा है। दूसरों की बात सुनना या समझने का प्रयास करना उसे स्वीकार करना नहीं होता, परंतु इन अलोकतांत्रिक विचारों के असहिष्णु लोगों की दुनिया में वामपंथी विचारों के सिवाय अन्य विचार के लिए स्थान ही नहीं दिखता। इसीलिए सीताराम येचुरी और उनके कुछ वामपंथी नेताओं ने जयपुर लिटफेस्ट का इसलिए बहिष्कार कर दिया था कि आयोजकों ने संघ के लोगों को बुलाया।

अवधेश राजपूत

फिल्मकार एवं लेखक विवेक अग्निहोत्री ने 'अर्बन नक्सल्स' नामक पुस्तक में लिखा है कि 'बुद्धा इन ट्रैफिक जाम' फिल्म की स्क्रीनिंग के लिए जब वह जादवपुर यूनिवर्सिटी गए तो वहां उनका विरोध हुआ, उनकी कार में तोड़-फोड़ हुई, उन पर भी शारीरिक हमला हुआ। यह हिंसक विरोध करने वाली सभी वामपंथी छात्राएं थीं। उनका नारा था 'ब्लडी फासिस्ट ब्राह्मण वापस जाओ'। विवेक अग्निहोत्री जब तक साम्यवाद का विरोध नहीं कर रहे थे तब तक वे एक प्रतिष्ठित फिल्म निर्माता थे, कलाकार थे, लेकिन नक्सलियों का पर्दाफाश करते ही वे 'ब्लडी, फासिस्ट और ब्राह्मण' हो गए। उन आंदोलनकारियों से अग्निहोत्री ने कहा कि 'मैं अपनी फिल्म दिखाने आया हूं। आपको नहीं देखनी है तो मत देखिए।' इस पर कहा गया, 'आप यहां कोई फिल्म कभी भी नहीं दिखा सकते, यहां किसी दूसरे विचार के लिए स्थान ही नहीं है।' यह प्रसंग मार्च 2016 का है।

वापस टीम लीडर के बयान पर लौटते हैं। ध्यान दीजिए कि प्रसून जोशी ने 'मणिकर्णिका' फिल्म के लिए कौन-सा गीत लिखा है? उस गीत के शब्द हैं, 'मैं रहूं या ना रहूं, भारत ये रहना चाहिए।' यह इतना सुंदर गीत है कि हर भारतीय के मन में देशभक्ति की भावनाओं का उभार आए बिना नहीं रहेगा। इसमें किसी को भी आपत्ति क्यों होनी चाहिए, किंतु वामपंथियों को आपत्ति है? उन्हें 'भारत तेरे टुकड़े होंगे, इंशा अल्लाह इंशा अल्लाह' या 'भारत की बर्बादी तक जंग चलेगी, जंग चलेगी' जैसे नारों पर आपत्ति नहीं होती। जाहिर है वामपंथियों को 'भारत माता की जय' का नारा भी फासिस्ट विचारों की अभिव्यक्ति ही लगता है।

सेमिटिक मूल के सभी रिलिजन या विचार प्रवाहों की यह विशेषता है कि मेरा ही 'सच' सच है। बाकी सब झूठ है। वे हमारे 'सच' के साथ आते हैं तो ठीक है, वरना उन्हें सोचने का, बोलने का, अभिव्यक्ति का, यहां तक कि जीने का भी अधिकार नहीं है। यह असहिष्णुता, अनुदारता पूर्णतः अभारतीय है। भारत का विचार अध्यात्म आधारित होने के कारण ही सर्वसमावेशी और उदार है। 1897 में स्वामी विवेकानंद जब भारत और हिंदुत्व का अमेरिका और यूरोप में डंका बजाकर, गौरव बढ़ाकर भारत वापस आ रहे थे तब इंग्लैंड से प्रस्थान के पूर्व एक अंग्रेज मित्र ने पूछा था, 'विकासमान, ऐश्वर्यशाली और शक्तिमान पाश्चात्य देशों में चार वर्षों का अनुभव लेने के बाद अब आपको अपनी मातृभूमि कैसे लगेगी?' इस पर उनका उत्तर बड़ा ही मार्मिक था, 'स्वदेश छोड़कर आने के पूर्व मैं भारत से केवल प्रेम ही करता था, परंतु अब मेरे लिए भारत की वायु, यहां तक कि भारत का प्रत्येक धूलिकण स्वर्ग से भी अधिक पवित्र है। भारत-भूमि पवित्र भूमि है। वह मेरी मां है। भारत मेरा तीर्थ है।' ...जैसे ही दूर से भारत का समुद्र-तट दिखाई पड़ा, उनके नयनों से अश्रु की धारा बह चली। हाथ जोड़कर वह उस तट की ओर देखते रहे, मानो साक्षात भारत मां का दर्शन कर रहे हों। जहाज किनारे पर लगते ही स्वामी जी डेक से नीचे उतरे और भारत भूमि पर पैर रखते ही साष्टांग प्रणाम कर उस धूल में इस प्रकार लोटने लगे मानो वर्षों बाद कोई बच्चा अपनी मां की गोद में पहुंचा हो। बार-बार वह भूमि को नमन करते और उसकी जय-जयकार करते जाते। जन-समुदाय इस दृश्य को देखकर आत्म-विभोर हो उठा।

प्रश्न उठता है कि भारत में जन्म लेकर, भारत की ही भूमि का अन्न, जल, वायु भक्षण कर, भारत के कर दाता द्वारा पोषित उच्च शैक्षिक संस्था में पढ़कर ऐसी एक जमात फल-फूल क्यों रही है जिसे भारत तेरे टुकड़े होंगे या भारत की बर्बादी जैसा नारा तो मंजूर है, पर 'मैं रहूं या ना रहूं, भारत ये रहना चाहिए' से चिढ़ है? भारत के देशभक्त लोगों के लिए सोचने का समय आया है। इस 'अभारतीय' सोच को अपने क्षुद्र राजनीतिक स्वार्थ के लिए प्रोत्साहन या संरक्षण देने या वामपंथी विचारकों को अपनी दलीय बौद्धिक गतिविधि 'आउटसोर्स' करने वाले राजनीतिक दल समय रहते यह धोखा समझ लें नहीं तो भारत की देशभक्त जनता को ऐसे दलों के बारे में सोचने हेतु बाध्य होना पड़ेगा।

(लेखक राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सह सरकार्यवाह हैं)

response@jagran.com

राजनीतिक सिनेमा का भविष्य

डॉ. विजय अग्रवाल

राजनीतिक फिल्में बननी चाहिए और बड़ी संख्या में बननी चाहिए, किंतु अधिकतम तटस्थता के सिद्धांत के साथ

हाल की इन चार फिल्मों को याद करिए- द एक्सीडेंटल प्राइम मिनिस्टर, बाल ठाकरे, उरी-द सर्जिकल स्ट्राइक और मणिकर्णिका। अब इन दो प्रश्नों पर विचार करिए कि क्या इन चार अलग-अलग नाम वाली फिल्मों को कोई एक नाम दिया जा सकता है? मतलब है कि क्या कोई एक ऐसा तत्व है जो इन चारों में समान रूप से मौजूद है? दूसरा प्रश्न यह है कि यदि ऐसा है तो फिर समान तत्व वाली फिल्मों को लगभग एक साथ लाने का व्यावसायिक जोखिम क्यों उठाया गया? पहली दो बायोपिक फिल्मों को मुख्यतः बायोपिक फिल्म न कहकर राजनीतिक फिल्म कहना सत्य के अधिक निकट होगा। यदि बायोपिक कहने की मजबूरी ही हो तो इन्हें अधिक से अधिक बायोपिक इन डिस्गाइस यानी छद्म जीवनी कथा कहा जा सकता है। लोकसभा चुनावों से चंद माह पहले आई इन दोनों फिल्मों का राजनीतिक मकसद बिल्कुल साफ था-कांग्रेस के शासन की पोल खोलना और महाराष्ट्र में शिवसेना के पक्ष में भावनात्मक माहौल तैयार करना। इसीलिए कांग्रेस ने भरपूर कोशिश की कि द एक्सीडेंटल प्राइम मिनिस्टर फिल्म रिलीज ही न हो पाए, लेकिन उसका इस मामले में असफल होना तय था और ऐसा ही हुआ।

सवाल किसी पार्टी विशेष की विचारधारा का नहीं है, बल्कि सत्ता के चरित्र का है, जो अपने थोड़े से विरोध में या विरोध की आशंका मात्र से सिहरकर अनुदारता के क्षेत्र में प्रवेश कर जाता है। यदि ऐसा नहीं होता तो यही कांग्रेस आपातकाल के दौरान आंधी फिल्म के प्रदर्शन पर रोक नहीं लगाती, जो प्रत्यक्षतः बायोग्राफी ही नहीं थी, इंदु सरकार की तरह। हां, उसमें इंदिरा गांधी के जीवन की झलक अवश्य थी। उरी और मणिकर्णिका के विषय तो बिल्कुल अलग-अलग हैं, लेकिन इन दोनों का उद्देश्य बिल्कुल एक है- राष्ट्रवाद की भावना की लहर उठाना। उरी जहां पाकिस्तान के खिलाफ सैनिकों के शौर्य को बयान करती है वहीं मणिकर्णिका साम्राज्यवादी ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध वीरतापूर्ण संघर्ष को दिखाती है। एक में राष्ट्र की रक्षा का आवेग है तो दूसरे में स्वतंत्रता का उत्सर्ग। दोनों फिल्मों के केंद्र में राष्ट्रवादी भावनाएं हैं। आगामी लोकसभा चुनाव के संदर्भ में राजनीतिक दलों के विचारधारात्मक स्वरूप को देखते हुए इस राष्ट्रवादी भावना का उद्देश्य बिल्कुल स्पष्ट है। यह न तो कोई गलत बात है और न ही चिंताजनक। अवैधानिक होने का तो सवाल ही नहीं उठता। ध्यान रहे कि जब सिनेमा नामक आश्चर्यजनक विधा को जन्म लिए दो दशक ही हुए थे तब ग्रीफिथ ने 1915 में द बर्थ ऑफ नेशन फिल्म बनाकर राजनीति के साथ सिनेमा के घनिष्ठ रिश्ते की खुलेआम घोषणा कर दी थी। बाद में साम्यवादी रूस ने उसका भरपूर इस्तेमाल किया। हिटलर ने तो इस्तेमाल करने की हद ही कर दी। उसे लार्जर दैन लाइफ की उस चरम सीमा तक दिखाया गया कि लोगों में भय फैलाने के साथ-साथ सिनेमा खुद भी भय का शिकार हो गया।

आज के अपेक्षाकृत यथार्थवादी दौर में तो यह बात और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है कि राजनीतिक सिनेमा अपनी घटनागत सत्यता के माध्यम से दर्शकों की विश्वसनीयता को कहां तक हासिल कर पाता है? यदि वह ऐसा करने में असफल रहता है तो फिर सैकड़ों भव्य दृश्यों एवं ताली बटोरने वाले संवादों के बावजूद वह अपने प्रभाव को खोकर अंततः अपने उद्देश्य में असफल हो जाता है। द एक्सीडेंटल प्राइम मिनिस्टर एवं बाल ठाकरे फिल्मों की असफलता इस सच्चाई को प्रमाणित करती है।

राजनीतिक फिल्मों की आंतरिक राजनीति कुछ भी क्यों न हो, इसमें दोराय नहीं कि ऐसी फिल्में बड़ी संख्या में बननी चाहिए, किंतु अधिकतम तटस्थता के सिद्धांत के साथ। यदि अमेरिका में ओबामास अमेरिका और हिलेरीस अमेरिका-द सीक्रेट हिस्ट्री ऑफ डेमोक्रेटिक पार्टी जैसी फिल्में बन सकती हैं तो भारत में क्यों नहीं? भारत में भी अमेरिका की तरह कुछ क्यों नहीं होना चाहिए? ऐसा होने पर ही भारत दुनिया के सामने सीना ठोककर स्वयं को केवल सबसे बड़ा लोकतंत्र ही नहीं, बल्कि सबसे सच्चा उदारवादी लोकतांत्रिक देश कह सकेगा। इससे भी बड़ी बात यह कि भारत में सही अर्थों में एक आलोचनात्मक राजनीतिक चेतना जागृत हो सकेगी। राजनीतिक दलों पर भी उसका अप्रत्यक्ष सकारात्मक नैतिक दबाव पड़ेगा, क्योंकि उन्हें इस बात का भय रहेगा कि उन पर फिल्में बनाई जा सकती हैं। मुश्किल यह है कि जिस देश में पद्मावत को लेकर इतनी बड़ी राजनीति की जा सकती है वहां यह कहना कठिन है कि राजनीतिक फिल्मों का राजनीतिक परिदृश्य क्या हो सकता है? ध्यान रहे कि अधिकांश फिल्मों में राजनीति होती है। फिल्मों पर भी जमकर राजनीति होती है। फिल्म-जगत की भी अपनी राजनीति होती रहती है। ऐसे में यह जरूरी है कि सशक्त राजनीतिक फिल्मों की शुरुआत की जाए।

response@jagran.com

ऊर्जा

करुणा

करुणा ईश्वरीय गुण है। करुणा न तो अपने-पराए का भेद करती है और न ही नुकसान की चिंता करती है। मनुष्य को करुणा से अद्भुत प्रेरणा मिलती है। करुणावान व्यक्ति किसी को कष्ट में देखकर चुपचाप नहीं बैठ सकता, बल्कि उसका मन अशांत हो जाता है। पीड़ित व्यक्ति को देखकर वह निःस्वार्थ भाव से उसकी मदद को आतुर हो उठता है। यहां तक कि किसी के प्राण बचाकर भी वह उसके बदले में कुछ नहीं चाहता। करुणा निःस्वार्थ ही होती है। करुणा का भाव एक सहज स्वाभाविक प्रवृत्ति है, जो किसी भी व्यक्ति के हृदय में उत्पन्न हो सकती है। करुणा ही मनुष्य को ईश्वर के करीब ले जाती है, क्योंकि नर की सेवा ही नारायण सेवा है। दूसरों के प्रति करुणा व्यक्त करना या सहायता करने के लिए व्यक्ति का धनवान होना आवश्यक नहीं है, बल्कि तन, मन और कर्म से मनुष्यता के लिए अपना सब कुछ आहूत कर देना ही सेवा का सच्चा भाव है। करुणा दूसरों के लिए विनम्र और विचारशील होने का गुण है। हालांकि दुनिया में बहुत कम लोगों में ऐसे गुण देखने को मिलते हैं, लेकिन ऐसे गुण वाले व्यक्ति की उपस्थिति उनके आसपास के लोगों के लिए वरदान ही है। संसार में जितने भी महान व्यक्ति हुए हैं, उन सबके जीवन में करुणा का भाव अवश्य रहा है। दधीचि ने देवताओं की रक्षा के लिए अपनी हड्डियां दान कर दी थीं, जबकि गौतम बुद्ध अपना राजपाट छोड़कर दुखी-बेसहारा लोगों के दुख दूर करने में जुट गए।

वास्तव में जब भी कोई व्यक्ति अपने स्वार्थ से ऊपर उठकर जनहित का आचरण करता है, वह सबके लिए पूज्यनीय हो जाता है। भगवान दयालु हैं। हमें उनसे जो भी चाहिए होता है, वह हमें देते हैं। तब हमें भी दूसरों के प्रति दयालुता दिखानी और हमसे जितना हो सके, हमें उनकी सहायता करनी चाहिए। जैसे हम ईश्वर से दया-करुणा की चाह रखते हैं, उसी तरह हमें भी दूसरों के प्रति भाव रखना चाहिए, तभी ईश्वर भी हम पर करुणा बरसाते हैं। हम अपने भीतर जितने भावों को पोषित कर सकते हैं, उन सबमें से करुणा सबसे कम बंधन उत्पन्न करती है। यह मनुष्य के हृदय पर गहरा प्रभाव डालती है। करुणा समाज में सुरक्षा और सौहार्द लाती है, क्योंकि करुणावान व्यक्ति में दूसरों का अच्छा करने की भावना निहित होती है।

आचार्य रामशरण शास्त्री

तथ्य-कथ्य

खाद्यान्न उत्पादन

(आंकड़े करोड़ टन में)

स्रोत : कृषि मंत्रालय

महिला होने का सुख

मारे पिताजी बड़े गर्व से कहते थे कि मेरी बेटियां हीं हैं, बेटे ही हैं। हमारा लालन-पालन बेटों ी ही तरह हुआ। हम सारा दिन खेलते-कूदते, क्रकेट से लेकर कंचे तक खेलते और पढ़ाई रते। रसोई में घुसने का आग्रह भी नहीं था, बस खाना बनाना आना चाहिए, इतना भर ही था। मुझ ो कहते कि तर्क में प्रवीण बनो, हम बन गए, ोकिन हमारे अंदर जो महिला बैठी थी उसका म निकल गया। पिताजी ने नाम भी रख दिया था अजित', लेकिन साथ में एक पुछल्ला भी जोड़ दिया था-दुलारी। मेरे बड़े भाई मुझे रोज उकसाते कि केवल अजित ही ठीक लगता है और एक दिन स्कूल बदलते समय मैंने पुछल्ला अपने नाम से हटा ही दिया। अपने अंदर की महिला को दूर कर, मेरे कार्य पुरुषों से होने लगे। अपने निर्णय खुद लेना, स्वतंत्र होकर रहना अच्छा लगने लगा, लेकिन जिस महिला को पिताजी ने दूर किया था और हमने जिसे अंगीकार किया था, वही महिला रोज हमारे सामने आकर खड़ी हो जाती। जीवन संघर्षमय हो गया। हम पुरुषों के बीच धड़ल्ले से घुस जाते, लेकिन थोड़ी देर में ही आभास होने लगता कि हम कुछ और हैं! लेकिन हम हार नहीं मानते। विवाह हुआ और गंभीर समस्या में फंस गए, पत्नी रूप में महिला ने चुनौती दे डाली कि

फिर स

मैं प्रतिपल अपने अंदर की महिला को पाने का इंतजाम करती हूं, लेकिन दोहरी जिंदगी मुझे हरा देती है

अब दूर करो मुझको। सबकुछ कर डाला, स्‍ जिम्मेदारी निभा डाली, लेकिन महिला बनकर नहीं रहना, सारी अच्छाइयों पर पानी फेर देता। महिला को क्या करना होता है, समझ ही नहीं आता। जिंदगी का बहुत बड़ा पड़ाव पार कर लिया, सामाजिक क्षेत्र हो या साहित्य क्षेत्र, सभी में पिताजी के अनुरूप खुद को सिद्ध भी कर डाला, लेकिन एक दिन एक जज ने फरमान सुना डाला, महिला को महिला की तरह ही रहना होगा। तब समझ आया कि हमने क्या खो दिया था। तब खोजना शुरू हुआ खुद को, महिला के सुख को।

मैंने महिला पर नजर डालनी शुरू की, उसे उन्मुक्त होकर हंसते देखा, उसे निडर होकर सजते देखा, उसे बिना छिपे रोते देखा, फिर खुद पर नजर डाली। मैं ना हंस पा रही थी, ना सज पा रही थी और ना ही रो पा रही थी। मैंने अपने अंदर की महिला को आवाज दी, उसे बाहर निकालने का प्रयास किया, वह डरी हुई थी, सहमी हुई थी, झिझकी हुई थी। मैंने कहा कि डर मत, सहम मत, झिझक मत, खुलकर हंस, खुलकर सज और खुलकर रो, लेकिन महिला हारती रही। मैं प्रतिपल प्रयास करती हूं, महिला को पाने का इंतजाम करती हूं, लेकिन फिर हार जाती हूं। क्यों हार जाती हूं? क्योंकि दोहरी जिंदगी हमें हरा देती है। हम महिला होने का सुख और उसकी सुख पाने की जद्दोजहद से खुद को जोड़ ही नहीं पाते, लेकिन आज सच में मैं महिला होना चाहती हूं। साड़ी-जेवर में सिमटना चाहती हूं, मैं कुछ नहीं हूं कहकर केवल जीना चाहती हूं। सच में मैं महिला होने का सुख पाना चाहती हूं। अपने पिताजी की इच्छा से परे केवल महिला होना चाहती हूं। अपने चारों ओर फैल गए पुरुषों के साम्राज्य को धकेलना चाहती हूं, महिलाओं के निवास में पैर रखना चाहती हूं। मैं नासमझ बनना चाहती हूं जिससे कोई भी पुरुष आहत ना हो पाए। मुझे नहीं चाहिए निर्णय का अधिकार, बस जीने और रोने के अधिकार से ही खुश रहना चाहती हूं। मैं बस महिला बनना चाहती हूं।

(अजित गुप्ता का कोना ब्लॉग से साभार)

मेलबाक्स

सोच बदलने की जरूरत

वक्त की मांग है लैंगिक समानता शीर्षक से लिखे अपने लेख में डॉ. मोनिक शर्मा ने दुनिया के दूसरे देशों के साथ-साथ भारत में भी लैंगिक समानता की राह में बाधाओं पर प्रकाश डाला है। यह बहुत ही शर्मनाक है कि 21वीं सदी में भी दुनिया में लैंगिक असमानता बरकरार है। हालांकि आज देश में महिलाओं के उत्थान या उनकी हर क्षेत्र में भागीदारी बढ़ाने पर बल दिया जा रहा है, फिर भी कई स्तरों पर अभी समस्याएं मौजूद हैं। गांवों की महिलाएं अपने अधिकारों के प्रति अभी जागरूक नहीं हैं, जिस कारण वे अपने ऊपर होने वाले जुल्मों के खिलाफ आवाज नहीं उठा पातीं। बहुत-से परिवार भी झूठी शान के खातिर महिलाओं और लड़कियों पर होने वाले जुल्मों के विरोध में अवाज नहीं उठाते, जो हैवानों के हौसले बढ़ाने का काम करता है। महिलाओं को ऐसे उत्पीड़न के खिलाफ अवाज उठानी चाहिए। यह सच है कि समय के साथ भारत की महिलाओं की दशा और सोच में काफी बदलाव आया है। आज वे हर क्षेत्र में अपना वर्चस्व बेशक कायम कर रही हैं, लेकिन अभी भी देश के कुछेक रूढ़िवादी तबके और धर्म के ठेकेदार लड़कियों के प्रति संकीर्ण सोच रखे हुए हैं, जिस कारण भारत अब तक दहेज प्रथा, कन्या भ्रूणहत्या जैसी सामाजिक बुराइयों से मुक्त नहीं हो पाया है। भारत तब तक मजबूत नहीं बन सकता, जब तक हर वर्ग के शत-प्रतिशत लोग लड़का-लड़की के बीच भेदभाव की संकीर्ण मानसिकता नहीं त्याग देते।

raju09023693142@yahoo.com

सार्थक पहल

सरोकार स्तंभ के अंतर्गत पत्तों से संवर रही थारू महिलाओं की जिंदगी संबंधी लेख प्रेरक लगा। प्लास्टिक और थर्माकोल पर प्रतिबंध के बाद बाजार में दोना और पत्तल की मांग बढ़ गई है। जिसके फलस्वरूप थारू महिलाओं ने पत्तों से दोना और पत्तल बनाकर अपना जीवन संवारा है। दोना और पत्तल की बिक्री से इन महिलाओं की अच्छी आय भी हो जाती है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी देखा जाए तो प्लास्टिक और थर्माकोल से बने प्लेट और ग्लास स्वास्थ्य के लिए तो हानिकारक होते ही हैं साथ ही नॉन-बायोडिग्रेडेबल होने के कारण पर्यावरण को भी अत्यंत नुकसान पहुंचाते हैं। वहीं दूसरी ओर पत्तों से बने दोना और पत्तल स्वास्थ्य के अनुकूल होते हैं और उपयोग करने के पश्चात उनसे पर्यावरण को भी कोई हानि नहीं पहुंचती है। इसीलिए हम सभी लोगों का यह कर्तव्य बन जाता है कि हम अपने वैवाहिक एवं अन्य पारिवारिक कार्यक्रमों में पत्तों से बने इको फ्रेंडली दोना और पत्तल का उपयोग अधिक से अधिक करें। इससे हमारे पर्यावरण को नुकसान नहीं होगा और इनको बनाने वाले मजदूरों एवं महिलाओं को रोजगार भी मिलेगा एवं उनकी आय में वृद्धि भी हो सकेगी। ऐसा करने से इनका जीवन स्तर भी काफी हद तक सुधर सकेगा।

डॉ. दीपक कोहली, लखनऊ

मुद्दों की तलाश में दल

दैनिक जागरण के सात मार्च के अंक में प्रकाशित प्रदीप सिंह का लेख, रणनीति बदलने को विवश विपक्ष, में चुनावी मुद्दों का अच्छा विश्लेषण है। उनका यह कहना कि साल 1977,1989 एवं 2014 के चुनावों में भ्रष्टाचार का मुद्दा प्राथमिकता में ऊपर आ गया था, कुछ हद तक सही है। साल 1989 के चुनाव में बोफोर्स खरीद में हुए घोटाले की गूंज थी तो 2014 में 2जी एवं खनन आदि घोटाले कांग्रेस पर भारी पड़े थे। बेशक 1977 में भ्रष्टाचार भी एक मुद्दा रहा होगा, लेकिन 1975 में लगी इमरजेंसी उस समय ज्वलंत मुद्दा बन गई थी। साल 1971 के भारत-पाक युद्ध में मिली जीत से महानायक बन कर उभरीं इंदिरा गांधी की एक भयंकर भूल ने कांग्रेस को सत्ता से बाहर कर दिया था। राजनीतिक दलों के लिए मुद्दे संजीवनी का काम करते हैं। आम चुनाव सिर पर आ गए हैं तो सरकार एवं विपक्ष दोनों ही अपनी रणनीति को धार देने में जुटे हैं। मुद्दों की तलाश में भटक रही कांग्रेस सरकार को घेरने के लिए बहुत दिनों से राफेल का राग अलाप रही है, लेकिन सुप्रीम कोर्ट एवं कैग की रिपोर्ट आने के बाद यह मुद्दा भी अपनी चमक खो बैठा है। वायुसेना द्वारा आतंकियों के खिलाफ की गई एयर स्ट्राइक से विपक्ष की हालत सांप के मुंह में छछूंदर वाली हो गई है। अभियान की प्रशंसा करने पर मोदी को श्रेय जाने का भय सता रहा है, इसलिए विपक्ष ने एक सुर में एयर स्ट्राइक के सुबूत मांगना शुरू कर दिया। पक्ष-विपक्ष आरोप-प्रत्यारोप लगाने के लिए स्वतंत्र हैं, लेकिन सेना को राजनीति में घसीटने का कोई औचित्य नहीं है।

रणजीत वर्मा, फरीदाबाद

mailbox@jagran.com

संस्थापक-स्व. पूर्णचन्द्र गुप्त. पूर्व प्रधान संपादक-स्व.नरेन्द्र मोहन. संपादकीय निदेशक-मह हन गुप्त. प्रधान संपादक-संजय गुप्त, जागरण प्रकाशन लि. के लिए: नीतेन्द्र श्रीवास्तव द्वारा 501, आई.एन.एस. बिल्डिंग, रफी मार्ग, नई दिल्ली से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा डी-210, 211, सेक्टर-63 नोएडा से मुद्रित, संपादक (राष्ट्रीय सं
दूरभाष : नई दिल्ली कार्यालय : 23359961-62, नोएडा कार्यालय : 0120-3915800, E-mail: delhi@nda.jagran.com, R.N.I. No. DELHIN/2017/74721 * इस अंक में प्रकाशित समस्त समाचारों के चयन एवं संपादन हेतु पी.आर.बी. एक्ट के अंतर्गत उत्तरदायी। समस्त विवाद दिल्ली न्यायालय के अधीन-